अथ पञ्चमसमुल्लासारम्भः

अथ वानप्रस्थसंन्यासविधिं वक्ष्यामः

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥ —शत० कां० १४॥

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्य्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें अर्थात् अनुक्रम से आश्रम का विधान है।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः॥ १॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥ २॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥३॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥४॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद्विधिपूर्वकम्॥५॥

इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्य्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहर कर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीत के वन में वसें॥ १॥

परन्तु जब गृहस्थ शिर के श्वेत केश और त्वचा ढीली हो जाय और लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जाके वसे॥२॥

सब ग्राम के आहार और वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़ पुत्रों के पास स्त्री को रख वा अपने साथ ले के वन में निवास करे॥ ३॥

साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को ले के ग्राम से निकल दृढेन्द्रिय होकर अरण्य में जाके वसे॥ ४॥

नाना प्रकार के सामा आदि अन्न, सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल, कन्दादि से पूर्वोक्त पञ्चमहायज्ञों को करे और उसी से अतिथि सेवा और आप भी निर्वाह करें॥५॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥ १॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥ २॥

स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने पढ़ाने में नित्ययुक्त, जितात्मा, सब का मित्र, इन्द्रियों का नित्य दमनशील, विद्यादि का दान देनेहारा और सब पर दयालु, किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे इस प्रकार सदा वर्त्तमान करे॥ १॥

शरीर के सुख के लिये अति प्रयत्न न करे किन्तु ब्रह्मचारी रहे अर्थात् अपनी

स्त्री साथ हो तथापि उस से विषयचेष्टा कुछ न करे भूमि में सोवे। अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे। वृक्ष के मूल में वसे॥ २॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ १॥

—मुण्ड० खं० २। मं० ११॥

जो शान्त विद्वान् लोग वन में तप धर्म्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जंगल में वसते हैं, वे जहाँ नाशरहित पूर्ण पुरुष हानि लाभरहित परमात्मा है; वहां निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं॥ १॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥१॥

—यजुर्वेदे अध्याये २०। मन्त्र २४॥

वानप्रस्थ को उचित है कि—मैं अग्नि में होम कर दीक्षित होकर व्रत, सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊं—ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे। पश्चात् जब संन्यासग्रहण की इच्छा हो तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे फिर संन्यास ग्रहण करे।

इति संक्षेपेण वानप्रस्थविधिः।

***

अथ संन्यासविधिः

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥ मनु०॥

इस प्रकार वनों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़ के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जावे।

(प्रश्न) गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न करके—संन्यासाश्रम करे उस को पाप होता है वा नहीं ?

(उत्तर) होता है और नहीं भी होता।

(प्रश्न) यह दो प्रकार की बात क्यों कहते हो?

(उत्तर) दो प्रकार की नहीं, क्योंकि जो बाल्यावस्था में विरक्त हो कर विषयों में फंसे वह महापापी और जो न फंसे वह महापुण्यात्मा सत्पुरुष है।

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्॥

—ये ब्राह्मण ग्रन्थ के वचन हैं।

जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो उसी दिन घर वा वन से संन्यास ग्रहण कर लेवे। पहले संन्यास का पक्षक्रम कहा। और इस में विकल्प अर्थात् वानप्रस्थ न करे, गृहस्थाश्रम ही से संन्यास ग्रहण करे और तृतीय पक्ष है कि जो पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय विषय भोग की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष

हो, वह ब्रह्मचर्याश्रम ही से संन्यास लेवे ।

और वेदों में भी **"यतयः ब्राह्मणस्य विजानतः"** इत्यादि पदों से संन्यास का विधान है। परन्तु–

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ –कठ० वल्ली २। मं० २४॥

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिस का आत्मा योगी नहीं और जिस का मन शान्त नहीं है, वह संन्यास ले के भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता। इसलिए–

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

–कठ० वल्ली ३। मं० १३॥

संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोके। उन को ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञान, स्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

–मुण्ड० खण्ड २। मं० १२॥

सब लौकिक भोगों को कर्म से सञ्चित हुए देख कर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे। क्योंकि अकृत अर्थात् न किया हुआ परमात्मा कृत अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता। इसलिये कुछ अर्पण के अर्थ हाथ में ले के वेदवित् और परमेश्वर को जानने वाले गुरु के पास विज्ञान के लिये जावे। जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे। परन्तु सदा इन का संग छोड़ देवे कि जो–

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ १॥
अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥ २॥

–मुण्ड० १। खण्ड २। मं० ८। ९॥

जो अविद्या के भीतर खेल रहे, अपने को धीर और पण्डित मानते हैं, वे नीच गति को जानेहारे मूढ़ जैसे अन्धे के पीछे अन्धे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं वैसे दुःखों को पाते हैं॥ १॥ जो बहुधा अविद्या में रमण करने वाले बालबुद्धि हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं, जिस को केवल कर्मकाण्डी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते, वे आतुर होके जन्म मरणरूप दुःख में गिरे रहते हैं॥ २॥ इसलिये–

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

–मुण्ड० ३ । खण्ड २। मं० ६॥

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यासयोग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं, वे परमेश्वर में मुक्ति सुख को प्राप्त हो; भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी

हो जाती है तब वहां से छूट कर संसार में आते हैं। मुक्ति के विना दुःख का नाश नहीं होता। क्योंकि—

न सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥ —छान्दो०॥

जो देहधारी है वह सुख दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीररहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है, तब उस को सांसारिक सुख दुःख प्राप्त नहीं होता। इसलिये—

लोकैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च पुत्रैषणायाश्चोत्थायाथ भैक्षचर्यं चरन्ति॥ —शत० कां० १४॥

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ धन से भोग वा मान्य पुत्रादि के मोह से अलग हो के संन्यासी लोग भिक्षुक हो कर रात दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्॥ १॥ —यजुर्वेदब्राह्मणे॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रवजेद् गृहात्॥१॥
यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥२॥ मनु०॥

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उस में यज्ञोपवीत शिखादि चिह्नों को छोड़ आहवनीयादि पांच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकल कर संन्यासी हो जावे॥ १॥ जो सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर घर से निकल के संन्यासी होता है उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वर प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिये प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है॥ २॥

(प्रश्न) संन्यासियों का क्या धर्म है।

(उत्तर) धर्म तो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है, परन्तु संन्यासी का विशेष धर्म यह है कि—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ १॥
क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥ २॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥ ३॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्॥ ४॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥ ५॥

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्॥६॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति॥७॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥८॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥९॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥ १०॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः॥११॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः।
तपसश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम्॥१२॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥१३॥
चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥१४॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ १५॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥ १६॥ मनु० अ० ६॥

जब संन्यासी मार्ग में चले तब इधर-उधर न देख कर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रख के चले। सदा वस्त्र से छान कर जल पीये, निरन्तर सत्य ही बोले, सर्वदा मन से विचार के सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे॥ १॥

जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे और एक मुख के, दो नासिका के, दो आँख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण मिथ्या कभी न बोले॥ २॥

अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर अपेक्षा रहित मद्य मांसादि वर्जित होकर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिये सदा विचरता रहै॥ ३॥

केश, नख, डाढ़ी, मूँछ का छेदन करवावे। सुन्दर पात्र, दण्ड और कुसुम्भ आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके निश्चितात्मा सब भूतों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरे॥४॥

इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग-द्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाया करे॥ ५॥

कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी जिस किसी आश्रम में वर्त्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मन

में निश्चित जाने कि दण्ड, कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिह्न धारण धर्म का कारण नहीं है। सब मनुष्यादि प्राणियों की सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है॥ ६॥

क्योंकि यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल पीस के गदरे जल में डालने से जल का शोधक होता है, तदपि विना डाले उसके नामकथन वा श्रवणमात्र से उसका जल शुद्ध नहीं हो सकता॥७॥

इसलिये ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे। परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे, यही संन्यासी का परमतप है॥ ८॥

क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राणों के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष, भस्मीभूत होते हैं॥ ९॥

इसलिये संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें॥ १०॥

इसी ध्यानयोग से जो अयोगी अविद्वानों के दुःख से जानने योग्य छोटे बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति उसको और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे॥ ११॥

सब भूतों से निर्वैर, इन्द्रियों के दुष्ट विषयों का त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्र तपश्चरण से संसार में मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं; अन्य नहीं॥ १२॥

जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह कांक्षारहित और सब बाहर भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है॥ १३॥

इसलिये ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि प्रयत्न से दश लक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन नित्य करें॥ १४॥

पहला लक्षण—(धृति) सदा धैर्य रखना। दूसरा—(क्षमा) जो कि निन्दा स्तुति मानापमान हानिलाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना। तीसरा—(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे। चौथा—(अस्तेय) चोरी-त्याग अर्थात् विना आज्ञा वा छल कपट विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से परपदार्थ का ग्रहण करना चोरी और उस को छोड़ देना साहुकारी कहाती है। पांचवां—(शौच) राग-द्वेष पक्षपात छोड़ के भीतर और जल मृत्तिका मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी। छठा—(इन्द्रियनिग्रह) अधर्माचरणों से रोक के इन्द्रियों को धर्म में ही सदा चलाना। सातवां—(धीः) मादकद्रव्य बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ दुष्टों का संग आलस्य प्रमाद आदि को छोड़ के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन सत्पुरुषों का सङ्ग योगाभ्यास धर्माचरण ब्रह्मचर्य आदि शुभकर्मों से बुद्धि का बढ़ाना। आठवां—(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त यथार्थज्ञान और उन से यथायोग्य उपकार लेना, सत्य जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना विद्या, इससे विपरीत अविद्या है। नववां—(सत्य) जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना वैसा ही बोलना और वैसा ही करना भी। तथा दशवां—(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़के

शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म का लक्षण है। इस दश लक्षणयुक्त पक्षपातरहित न्यायाचरण धर्म का सेवन चारों आश्रम वाले करें और इसी वेदोक्त धर्म ही में आप चलना और दूसरों को समझा कर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है॥ १५॥

इसी प्रकार से धीरे-धीरे सब सङ्गदोषों को छोड़ हर्ष शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है। संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार से व्यवहारों का सत्य निश्चय करा अधर्म व्यवहारों से छुड़ा सब संशयों का छेदन कर सत्य धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें॥ १६॥

(प्रश्न) संन्यासग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है वा क्षत्रियादि का भी?

(उत्तर) ब्राह्मण ही को अधिकार है, क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान् धार्मिक परोपकारप्रिय मनुष्य है उसी का ब्राह्मण नाम है। विना पूर्ण विद्या के धर्म परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसीलिये लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को संन्यास का अधिकार है, अन्य को नहीं यह मनु का प्रमाण भी है—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राजधर्मं निबोधत॥ मनु०॥

यह मनु जी महाराज कहते हैं कि हे ऋषियो! यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है। यहां वर्त्तमान में पुण्यस्वरूप और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देने वाला संन्यास धर्म है। इस के आगे राजाओं का धर्म मुझ से सुनो। इस से यह सिद्ध हुआ कि संन्यासग्रहण का अधिकार मुख्य करके ब्राह्मण का है और क्षत्रियादि का ब्रह्मचर्याश्रम है।

(प्रश्न) संन्यासग्रहण की आवश्यकता क्या है?

(उत्तर) जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है। क्योंकि इसके विना विद्या धर्म कभी नहीं बढ़ सकते और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़ कर वर्त्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है। जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता। क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता। परन्तु जो ब्रह्मचर्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्यशिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।

(प्रश्न) संन्यास ग्रहण करना ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध है क्योंकि ईश्वर का अभिप्राय मनुष्यों की बढ़ती करने में है। जब गृहाश्रम नहीं करेगा तो उस से सन्तान ही न होंगे। जब संन्यासाश्रम ही मुख्य है और सब मनुष्य करें तो मनुष्यों का मूलच्छेदन हो जायेगा।

(उत्तर) अच्छा, विवाह करके भी बहुतों के सन्तान नहीं होते अथवा होकर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं फिर वह भी ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध करने वाला हुआ। जो तुम कहो कि **'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः।'** यह किसी कवि का वचन है।

(अर्थ) जो यत्न करने से भी कार्य सिद्ध न हो तो इस में क्या दोष? अर्थात् कोई भी नहीं। तो हम तुम से पूछते हैं कि गृहाश्रम से बहुत सन्तान होकर आपस में विरुद्धाचरण कर लड़ मरें तो हानि कितनी बड़ी होती है। समझ के विरोध से लड़ाई बहुत होती है। जब संन्यासी एक वेदोक्त धर्म के उपदेश से परस्पर प्रीति उत्पन्न करावेगा तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा। सहस्रों गृहस्थ के समान मनुष्यों की बढ़ती करेगा। और सब मनुष्य संन्यासग्रहण कर ही नहीं सकते। क्योंकि सब की विषयासक्ति कभी नहीं छूट सकेगी। जो-जो संन्यासियों के उपदेश से धार्मिक मनुष्य होंगे वे सब जानो संन्यासी के पुत्र तुल्य हैं।

(प्रश्न) संन्यासी लोग कहते हैं कि हम को कुछ कर्त्तव्य नहीं। अन्न वस्त्र लेकर आनन्द में रहना, अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना? अपने को ब्रह्म मानकर सन्तुष्ट रहना। कोई आकर पूछे तो उस को भी वैसा ही उपदेश करना कि तू भी ब्रह्म है। तुझ को पाप पुण्य नहीं लगता क्योंकि शीतोष्ण शरीर, क्षुधा तृषा प्राण और सुख दुःख मन का धर्म है। जगत् मिथ्या और जगत् के व्यवहार भी सब कल्पित अर्थात् झूठे हैं इसलिये इस में फंसना बुद्धिमानों का काम नहीं। जो कुछ पाप पुण्य होता है वह देह और इन्द्रियों का धर्म है आत्मा का नहीं। इत्यादि उपदेश करते हैं और आपने कुछ विलक्षण संन्यास का धर्म कहा है। अब हम किस की बात सच्ची और किस की झूठी मानें ?

(उत्तर) क्या उन को अच्छे कर्म भी कर्त्तव्य नहीं? देखो—**'वैदिकैश्चैव कर्मभिः'** मनु जी ने वैदिक कर्म जो धर्मयुक्त सत्य कर्म हैं, संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है। क्या भोजन छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे? जो ये कर्म नहीं छूट सकते तो उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित और पापभागी नहीं होंगे? जब गृहस्थों से अन्न वस्त्रादि लेते हैं और उन का प्रत्युपकार नहीं करते तो क्या वे महापापी नहीं होंगे ? जैसे आंख से देखना कान से सुनना न हो तो आंख और कान का होना व्यर्थ है, वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि सत्यशास्त्रों का विचार, प्रचार नहीं करते तो वे भी जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं।

और जो अविद्या रूप संसार से माथापच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं वैसे उपदेश करने वाले ही मिथ्यारूप और पाप के बढ़ाने हारे पापी हैं। जो कुछ शरीरादि से कर्म किया जाता है वह आत्मा ही का और उस के फल का भोगने वाला भी आत्मा है।

जो जीव को ब्रह्म बतलाते हैं वे अविद्या निद्रा में सोते हैं। क्योंकि जीव अल्प, अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वव्यापक सर्वज्ञ है । ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभावयुक्त है। और जीव कभी बद्ध कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म को सर्वव्यापक सर्वज्ञ होने से भ्रम वा अविद्या कभी नहीं हो सकती। और जीव को कभी विद्या और कभी अविद्या होती है। ब्रह्म जन्ममरण दुःख को कभी नहीं प्राप्त होता है और जीव प्राप्त होता है। इसलिये वह उनका उपदेश मिथ्या है।

(प्रश्न) 'संन्यासी सर्वकर्म्मविनाशी' और अग्नि तथा धातु को स्पर्श नहीं करते। यह बात सच्ची है वा नहीं?

(उत्तर) नहीं। **'सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन् यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन स संन्यासः, स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी'।** जो ब्रह्म और उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित और जिस से दुष्ट कर्मों का त्याग

किया जाय संन्यास, वह उत्तम स्वभाव जिस में हो वह संन्यासी कहाता है। इस में सुकर्म का कर्त्ता और दुष्ट कर्मों का विनाश करने वाला संन्यासी कहाता है।

(प्रश्न) अध्यापन और उपदेश गृहस्थ किया करते हैं, पुनः संन्यासी का क्या प्रयोजन ?

(उत्तर) सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुनें परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है उतनी गृहस्थों को नहीं। हाँ ! जो ब्राह्मण हैं उनका यही काम है कि पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को सत्योपदेश और पढ़ाया करें। जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सकता। जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करें तब उनका नियन्ता संन्यासी होता है। इसलिये संन्यास का होना उचित है।

(प्रश्न) **'एकरात्रिं वसेद् ग्रामे'** इत्यादि वचनों से संन्यासी को एकत्र एकरात्रिमात्र रहना अधिक निवास न करना चाहिये।

(उत्तर) यह बात थोड़े से अंश में तो अच्छी है कि एकत्र वास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता और स्थानान्तर का भी अभिमान होता है। राग, द्वेष भी अधिक होता है। परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो तो रहे। जैसे जनक राजा के यहां चार-चार महीने तक पञ्चशिखादि और अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे और 'एकत्र न रहना' यह बात आजकल के पाखण्डी सम्प्रदायियों ने बनाई है। क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न बढ़ सकेगा।

(प्रश्न) यतीनां काञ्चनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम्।
चौराणामभयं दद्यात्स नरो नरकं व्रजेत्॥

इत्यादि वचनों का अभिप्राय यह है कि संन्यासियों को जो सुवर्ण दान दे तो दाता नरक को प्राप्त होवे।

(उत्तर) यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी सम्प्रदायी और स्वार्थसिन्धु वाले पौराणिकों की कल्पी हुई है, क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे और हमारी हानि होगी तथा वे हमारे अधीन भी न रहेंगे। और जब भिक्षादि व्यवहार हमारे आधीन रहेगा तो डरते रहेंगे। जब मूर्ख और स्वार्थियों को दान देने में अच्छा समझते हैं तो विद्वान् और परोपकारी संन्यासियों को देने में कुछ भी दोष नहीं हो सकता। देखो—

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्॥ मनु०॥

नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन (विविक्त) अर्थात् संन्यासियों को देवें और वह श्लोक भी अनर्थक है। क्योंकि संन्यासी को सुवर्ण देने से यजमान नरक को जावे तो चांदी, मोती, हीरा आदि देने से स्वर्ग को जायेगा।

(प्रश्न) यह पण्डित जी इस का पाठ बोलते समय भूल गये। यह ऐसा है कि 'यतिहस्ते धनं दद्यात्' अर्थात् जो संन्यासियों के हाथ में धन देता है वह नरक में जाता है।

(उत्तर) यह भी वचन अविद्वान् के कपोलकल्पना से रचा है। क्योंकि जो हाथ में धन देने से दाता नरक को जाय तो पग पर धरने वा गठरी बांध कर देने से स्वर्ग को जायेगा। इसलिए ऐसी कल्पना मानने योग्य नहीं। हां ! यह बात

तो है कि जो संन्यासी योगक्षेम से अधिक रक्खेगा तो चोरादि से पीड़ित और मोहित भी हो जायगा परन्तु जो विद्वान् है वह अयुक्त व्यवहार कभी न करेगा, न मोह में फंसेगा। क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोग कर वा सब देख चुका है और जो ब्रह्मचर्य से होता है वह पूर्ण वैराग्ययुक्त होने से कभी कहीं नहीं फंसता।

(प्रश्न) लोग कहते हैं कि श्राद्ध में संन्यासी आवे वा जिमावे तो उस के पितर भाग जायें और नरक में गिरें।

(उत्तर) प्रथम तो मरे हुए पितरों का आना और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुंचना ही असम्भव, वेद और युक्तिविरुद्ध होने से मिथ्या है। और जब आते ही नहीं तो भाग कौन जायेंगे? जब अपने पाप पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं तो उन का आना कैसे हो सकता है? इसलिये यह भी बात पेटार्थी पुराणी और वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई है। हां यह तो ठीक है कि जहां संन्यासी जायेंगे वहां यह मृतकश्राद्ध करना वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने से पाखण्ड दूर भाग जायगा।

(प्रश्न) जो ब्रह्मचर्य से संन्यास लेवेगा उस का निर्वाह कठिनता से होगा और काम का रोकना भी अति कठिन है। इसलिए गृहाश्रम वानप्रस्थ होकर जब वृद्ध हो जाय तभी संन्यास लेना अच्छा है।

(उत्तर) जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों को न रोक सके, वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे। परन्तु जो रोक सके वह क्यों न लेवे? जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्यसंरक्षण के गुण जाने हैं वह विषयासक्त कभी नहीं होता। और उस का वीर्य्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है। जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यकता रोगी के लिये होती है वैसी नीरोगी के लिये नहीं। इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री को विद्या धर्मवृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो वह विवाह न करे। जैसे पञ्चशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियां हुई थीं।

इसलिये संन्यासी होना अधिकारियों को उचित है। और जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा तो आप डूबेगा औरों को भी डुबावेगा। जैसे 'सम्राट्' चक्रवर्ती राजा होता है वैसे 'परिव्राट्' संन्यासी होता है। प्रत्युत राजा अपने देश में वा स्वसम्बन्धियों में सत्कार पाता है और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है।

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥१॥

—यह चाणक्य-नीतिशास्त्र का श्लोक है।

विद्वान् और राजा की कभी तुल्यता नहीं हो सकती, क्योंकि राजा अपने राज्य ही में मान और सत्कार पाता है और विद्वान् सर्वत्र मान और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिये ब्रह्मचर्य्य, सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ; विचार ध्यान और विज्ञान बढ़ाने तपश्चर्या करने के लिये वानप्रस्थ; और वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सब को निःसन्देह करने आदि के लिये संन्यासाश्रम है। परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि

नहीं करते वे पतित और नरकगामी हैं इस से संन्यासियों को उचित है कि सदा सत्योपदेश शङ्कासमाधान, वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।

(प्रश्न) जो संन्यासी से अन्य साधु, वैरागी, गुसाईं, खाखी आदि हैं वे भी संन्यासाश्रम में गिने जायेंगे वा नहीं ?

(उत्तर) नहीं। क्योंकि उन में संन्यास का एक भी लक्षण नहीं। वे वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होकर वेद से अधिक अपने सम्प्रदाय के आचार्य्यों के वचन मानते और अपने ही मत की प्रशंसा करते। मिथ्या प्रपंच में फंसकर अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को अपने-अपने मत में फंसाते हैं। सुधार करना तो दूर रहा, उस के बदले में संसार को बहका कर अधोगति को प्राप्त कराते और अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इसलिये इन को संन्यासाश्रम में नहीं गिन सकते किन्तु ये स्वार्थाश्रमी तो पक्के हैं। इस में कुछ सन्देह नहीं।

जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं, जो आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में, परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं। वे ही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं।

यह संक्षेप में संन्यासाश्रम की शिक्षा लिखी । अब इस के आगे राज-प्रजाधर्म विषय लिखा जाएगा ।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते वानप्रस्थसंन्यासाश्रमविषये
पञ्चमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ५॥